



## International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2017; 3(3): 08-10

© 2017 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 03-03-2017

Accepted: 04-04-2017

**अभिषेक अग्निहोत्री**

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग  
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,  
इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत



### वेदों के अनुसार प्राचीन भारत में समाज की अवधारणा

**अभिषेक अग्निहोत्री**

**प्रस्तावना**

भारतीय चिन्तन में समाज मानवकृत व्यवस्था नहीं है, अपितु यह प्राकृतिक व्यवस्था है। मनुष्य ही नहीं वरन् कुछ हद तक पशुओं का जीवन भी अन्योन्याश्रित और परस्पर अवलम्बी दिखाई पड़ता है। जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य का जीवन सामंजस्य, सहयोग और सद्भाव के आधार पर ही परिष्कृत और परिमार्जित होकर सुसंस्कृत बनता है। यदि समाज शब्द के व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति को भी देखा जाय तो अमरकोश 'समाज' शब्द की व्युत्पत्ति 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अज् गत्यादौ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर, यह शब्द बना है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि हमारे मनीषियों ने समाज का मूल-तत्त्व सामंजस्य और गतिशीलता को माना है। अतः समाज वह नैसर्गिक व्यवस्था है जो मनुष्य में परस्पर सामंजस्य और परम्परागत गतिशीलता का निर्माण करती है।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य समाज व्यवस्था का उद्भावक न होकर, उसका परिमार्जक और परिष्कर्ता है। क्योंकि मनुष्य का जीवन ही एक सामाजिक इकाई के रूप में होता है। अरण्यवासी मानव भी समूह में कुछ विशेष प्राकृतिक नियम एवं व्यवस्था के अनुसार ही जीवन-यापन करता था। एकल मनुष्य की कल्पना समाज की परम्परा को आगे बढ़ाने में सक्षम नहीं है और न ही सम्भव है। मनुष्य जन्म लेते ही अपने पोषण, रक्षण और संवर्धन के लिए स्वावलम्बी नहीं होता है। प्राथमिक अवस्था के भरण-पोषण के लिए माँ तथा सुरक्षा और संस्कार के लिए माँ सहित सम्पूर्ण समाज पर निर्भर रहता है। यह समाज की पूरकता पर निर्भर करता है इसीलिए हमारे शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति की धारणा में ही पारस्परिकता को स्पष्ट किया गया है। श्रीमद्भवद्गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजाओं (लागों) की रचना की और उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ (पारस्परिकता) के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो और यह यज्ञ तुम लागों को इच्छित भोग देने वाला हो।<sup>1</sup> यह यज्ञ की भावना ही उस पारस्परिकता को द्योतित करती है, जो मनुष्य और मनुष्य के बीच निर्भर न होकर प्रकृति, पर्यावरण और परिवेश के साथ भी सहसम्बन्ध का विकास करती है।

सृष्टि का सृजन कैसे हुआ होगा? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस शंका का समाधान ऋषियों, मनीषियों और आज के आधुनिक वैज्ञानिकों के द्वारा भी किया जा रहा है। मनु ने पितामह ब्रह्मा के उत्पन्न होने की कथा में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन किया है— "उस परमात्मा ने नानाविध प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से युक्त होकर अपने शरीर से अभिध्यानमात्र के द्वारा पहले जल की सृष्टि की, और उसमें शक्तिरूप बीज डाल दिया। वह बीज परमेश्वर की इच्छा से सूर्य के समान प्रकाशवाला सोने का अण्डा बन गया। उस अण्डे में समस्त लोकों के पितामह ब्रह्म उत्पन्न हुए।<sup>2</sup> सृष्टि के आदि में जब मानव रूपी जीव का सृजन हुआ होगा तब उसके सृजन का एकांगी विचार प्राकृतिक प्रक्रिया में ही सम्भव नहीं है, उसके वंशानुक्रम को आगे बढ़ाने के लिए निश्चित रूप से एक से अधिक मानव की आवश्यकता पड़ी होगी नहीं तो सृष्टि अपने आविर्भाव के साथ ही तिरोभाव को प्राप्त हो गयी होती।

सृष्टि प्रक्रिया के विषय में हमारे वैदिक शास्त्रों में कहा गया है— 'एकोऽहं बहुस्याम', 'तदक्षत् बहुस्याम प्रजायेयेत्'<sup>4</sup> इस प्रकार के विचारों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अर्थात् उस परमात्मा ने कहा कि 'मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ'। एकता में बहुलता का विचार ही हमारी समाज रचना की आधारभूमि है जो कि मानवकृत न होकर दैवीय है। एकता में बहुलता के आधार पर खड़ी इस समाज रचना में जब बहुत्व का प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति इस बहुत्व के अन्दर की एकता के मूल-तत्त्व को भूल जाता है तथा अनुभूति भी नहीं कर पाता है तब व्यक्ति और समाज का संघर्ष खड़ा होता है। जबकि यह संघर्ष दोनों के लिए ही अहितकर है, क्योंकि दोनों की एक-दूसरे से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं। यही भारतीय तत्त्व चिन्तन की मान्यता है।

सम्पूर्ण परिदृश्य से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य और समाज का विकास सहज, स्वतः स्फूर्त और साथ-साथ हुआ है। परन्तु देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार समाज की सांस्कृतिक रचना

**Correspondence**

**अभिषेक अग्निहोत्री**

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग  
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,  
इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत

अलग-अलग देशों में अलग-अलग प्रकार से खड़ी हुई है। समाजगत समानताओं में वैश्विक स्तर पर एकरूपता भी दिखाई पड़ती है, तो बहुत सी विभिन्नतायें भी दृष्टिगोचर होती हैं। प्राचीन भारतीय समाज की अवधारणा को और स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें वैदिक, पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों में वर्णित समाज के स्वरूप को समझना अति आवश्यक है। वैसे भारत में प्राचीन काल से अब तक लिखा गया वाङ्मय इतना विशाल है कि केवल पुस्तकों के नाम ही लिखे जायें तो नामों की सूची के ही कई ग्रन्थ तैयार हो सकते हैं। परन्तु मूलभूत ग्रन्थ जो सम्पूर्ण समाज में मान्य है, समाज जिनसे प्रेरणा प्राप्त करता है, समूचा भारत जिसमें अभिव्यक्त होता है, उनको अभिव्यक्त किया गया है— वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता तथा षड् दर्शन में निहित श्रेष्ठतम ज्ञाननिधि है, जिसको श्रद्धापूर्वक हृदय में धारण करें।<sup>15</sup> भारतीय समाज जीवन में वेदों का अप्रतिम महत्त्व रहा है। प्राचीन काल से समाज द्वारा वेदों को हमारे दर्शन, धर्म, संस्कृति की गंगोत्री माना गया है। समाज जीवन में वेदों का अत्यधिक महत्त्व है, कहा गया है—“वेदोऽखिलो धर्ममूलम्”, “वेदोऽखिलो ज्ञानमूलम्” अर्थात् वेद सभी धर्मों का मूल है, सभी ज्ञान का मूल वेद है। वेद का अर्थ निरपेक्ष ज्ञान है, परन्तु उस निरपेक्ष ज्ञान की अनुभूति साधना व तपस्या द्वारा भिन्न-भिन्न ऋषियों ने की और उस साक्षात्कार को वाणी द्वारा मंत्रों के रूप में, ऋचाओं के रूप में अभिव्यक्त किया। भारतीय समाज प्राचीन काल से ही वेदों को ‘नित्य’ और ‘अपौरुषेय’ मानते हैं, इनके दृष्टा गृत्समद, विश्वामित्र, अत्रि, वामदेव आदि ऋषि थे। सृष्टि जब व्यक्त होती है तो वेद व्यक्त होता है और जब लुप्त होती है तो वेद भी लुप्त हो जाते हैं। ‘ऋषयो मंत्रं दृष्टारः’<sup>16</sup> ऋषि मंत्र के दृष्टा है। वैदिक ऋषियों की मान्यता थी, अव्यक्त अवस्था से जब जगत् व्यक्त होता है तो मूलस्थिति में विक्षोभ उत्पन्न होता है, विक्षोभ के साथ कंपन और कंपन ही ध्वनि के रूप में व्यक्त होते हैं। अतः माना गया है कि सृष्टि कंपन है और हमारे यहाँ प्राचीनकाल से नादब्रह्म को सृष्टि का कारण माना है, सृष्टि में व्याप्त इस नाद के विविध रूपों का ही ऋषियों ने साक्षात्कार किया तथा उन्हें वैदिक मंत्रों के रूप में अभिव्यक्त भी किया।

अनुश्रुतियों के अनुसार कृष्ण द्वैपायन व्यास ने इनका संकलन, सम्पादन और वर्गीकरण किया था, जिसके कारण वह वेदव्यास कहलाये। वेदों की संख्या चार है— ऋक्, यजु, साम और अथर्व। इनमें प्रत्येक के चार भाग हैं— संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता का शाब्दिक अर्थ है ‘संग्रह’, देवताओं की स्तुति में प्रयुक्त मंत्रों का संग्रह। ब्राह्मण ग्रन्थों में मंत्रों की व्याख्या और यज्ञ याग का विस्तार से वर्णन है। आरण्यकों में सामान्यतः यज्ञों के आध्यात्मिक पक्ष की मीमांसा मिलती है और ‘उपनिषदों’ में जो वेदों का अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त कहलाये, विशेषतः उनमें दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया। इसी प्रकार ऋग्वेद का विषय है— ‘शस्त्र’ अर्थात् जो मन्त्रों द्वारा उच्चरित होता है तथा जिसका गान नहीं किया जा सकता, यजुर्वेद का विषय है— ‘इज्या’ अर्थात् यज्ञ, सामवेद का विषय है— ‘स्तुति-स्तोम’ अर्थात् स्तुति के लिए प्रयुज्यमान ऋक् समुदाय जो उद्गाता के द्वारा गया जाता है, अथर्ववेद का प्रतिपाद्य विषय है— ‘प्रायश्चित्त’।<sup>17</sup> वेदों का नाम ‘श्रुति’ भी है, अर्थात् जो परम्परा से श्रवण द्वारा कंठस्थ रूप में निर्वाहित होते चले आये, यह परम्परा अनेक ऋषि, आश्रमों के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा सुरक्षित रही। अल्बेरूनी ने अपनी किताब में कहा है कि वेद गुरु-मुख से सुन कर शिष्य-परम्परा द्वारा कंठस्थ रूप से विद्यमान रहे।<sup>18</sup>

ऋग्वेद में 10580 मन्त्र, 1017 सूक्त तथा 10 मण्डल है। यजुर्वेद में शुक्ल और कृष्ण दो भाग हैं, जिनमें से शुक्ल यजुर्वेद में 40 अध्याय, 1975 मन्त्र और कृष्ण-यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा में 4 काण्ड, 54 प्रपाठक और 2114 मन्त्र तथा तैत्तिरीय शाखा में 7 काण्ड, 44 प्रपाठक और 631 अनुवाक है। सामवेद को भी दो भागों में विभक्त किया गया है— पूर्वाचिक और उत्तरार्चिक। पूर्वाचिक में 6

प्रपाठक, 650 मन्त्र और उत्तरार्चिक में 9 प्रपाठक, 1125 मन्त्र हैं। अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं, इसमें 20 काण्ड, 730 सूक्त और लगभग 6000 मन्त्र हैं।

ऋषियों ने उस समय सर्वत्र एक व्यवस्था को ही देख कर ऐसी विश्व-व्यवस्था की कल्पना की, जिसका प्रयोग वेदों में है, उसी वैदिक स्वरूप को ‘ऋत’ कहा गया है। वैदिक सृष्टिविद्या का मूलाधार ही ऋत की अवधारणा है। अनन्त प्रकृति, समस्त चराचर में व्याप्त जो जगत्-विषयक नियम है संहिताओं में उसे ‘ऋत’ नाम से कहा गया है। ऋत एक ऐसी अनुशासन व्यवस्था है जिसका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता है। ऋग्वेद में कहा भी गया है कि ‘द्युलोक और दुहितृस्थानीय, ज्योतिर्मय वस्त्रों को धारण किये हुए, सबके प्रति सद्भावना रखने वाली यह उषा सामने दिखाई दे रही है, मानो वह ‘ऋत’ के मार्ग का बुद्धिपूर्वक अनुसरण करती हुई कभी भी नियमों का अतिक्रमण नहीं करती।<sup>19</sup> वेदों में ऋत की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह सभी प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है। वेदों में यह ‘ऋत’ नित्य, शाश्वत और सबका पिता है। वेदों का यह नैतिक नियम देवताओं और मनुष्यों को सन्मार्ग पर चलने का निर्देश करता है, मनुष्यों के लिए उसका स्पष्ट निर्देश है कि वे पापों से बच कर पुण्य की ओर प्रवृत्त हों।

### उपसंहार

वैदिक काल में सामाजिक जीवन पारस्परिक एकता, सहयोग, सद्भाव और संगठन पर निर्भर था। मानव का अस्तित्व समाज पर अवलम्बित तथा जीवित था और व्यक्ति ही समाज का निर्माता था। वेदों में संगठन और एकता के अनेक उदाहरण हमें दिखाई देते हैं, ऋग्वेद में कहा गया है कि “हे मनुष्यो, तुम परस्पर मिल कर रहो एक साथ स्तोत्र पाठ करो, तुम सबका मन एक समान हो, जैसे देवता एक साथ होकर अविरोध भाव से अपना हविर्भाग ग्रहण करते थे, वैसे ही तुम भी एक साथ होकर अपना प्राप्य ग्रहण करो।”<sup>20</sup> और भी कहा गया है कि “तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, हृदय एक हो, मन एक हो, तुम सभी लोग मिलकर एक साथ रहो।”<sup>21</sup> इन मंत्रों में वर्णित जो समानता और समान वितरण की जो भावना विद्यमान है, उससे ही वैदिक काल के आदर्श सामाजिक जीवन का साक्षात्कार होता है। अतः जब प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यों के प्रति सतर्क रहता हुआ अपनी अन्तरात्मा की निर्मलता और स्वच्छता को विद्यमान रखता है, तब प्रत्येक मनुष्य के अन्दर एकता और संगठन की प्रवृत्ति का विकास भी होता है।

यजुर्वेद में पारस्परिक एकता के संदर्भ में कहा गया है कि, “तू मुझे दे और मैं तुझे देता हूँ, तू मुझसे उत्तम गुण धारण कर और मैं तुझसे उत्तम गुण धारण करता हूँ, यह मैं लेता हूँ और यह तू स्वीकार कर।”<sup>22</sup> वेदों के अनुसार पारस्परिक सहयोग, सद्भाव, समन्वय और सहायता करना ही मानव का प्रथम कर्तव्य है। आदर्श एवं अनुकरणीय उदाहरण ऋग्वैदिक ऋषियों के द्वारा समाज को दिया गया कि ‘जो अकेले खाता है, वह पापी है।’<sup>23</sup> अथर्ववेद में भी इसी प्रकार कहा गया है कि ‘हे प्रभु, मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मैं मनुष्य मात्र के प्रति, चाहे मैं उसको जानता हूँ या नहीं, पर मैं उसके प्रति सद्भावना रख सकूँ।’<sup>24</sup> समस्त मानवता में मैत्री भावना का विकास हो, इसलिये ही ऋषियों ने मन्त्रों के माध्यम से कहा है कि ‘हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भाव का विस्तार हो सके।’<sup>25</sup>

वेदों के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व में उदारता, निस्पृहता, सामाजिक एकता तथा समानता की प्रवृत्ति का विकास करना नियत था, जिसमें किसी प्रकार के एकाधिकार और अनावश्यक संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं था। इसीलिए तो कहा गया कि ‘सौ हाथों से संघर्ष करो और सहस्र हाथों से उसका वितरण करो।’<sup>26</sup> अर्थात् वैदिक काल में समाज के एक ओर उद्योगशील बने रहकर यश और धन को प्राप्त करने की प्रवृत्ति का भान होता है, वहीं दूसरी ओर अर्जित की गई सम्पत्ति को मुक्त हस्त से वितरित करने की उदारता का भी पता चलता है।

राष्ट्रीय एकता की भावना को महत्व देते हुए 'ईशावास्योपनिषद्' में कहा गया है कि 'यह सब जो कुछ पृथ्वी पर चराचर वस्तु है वह ईश्वर से आच्छादित है, मनुष्य को ईश्वर के दिए हुए पदार्थों का उपभोग करना चाहिए, किसी अन्य व्यक्ति के धन का लालच नहीं करना चाहिए।<sup>17</sup> अर्थात् मनुष्य को स्वार्थ का त्याग कर परमार्थ की ओर मन लगाना चाहिए, तभी वह सुख को प्राप्त करेगा और ईश्वर ने जो सम्पत्ति उसे दी है उसका भी उपयोग वह अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए करेगा। जिससे मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति के साथ-साथ राष्ट्र की उन्नति भी होगी। सामवेद के अन्तर्गत समष्टिमय लोक-हितकारी संस्कृति का उदाहरण मिलता है, जिसमें इन्द्र, सूर्य, विष्णु और बृहस्पति से सर्वतः समस्त मानवता के प्रति कल्याण की कामना की गयी है।<sup>18</sup> वैदिक काल में समाज को सुख-शान्ति, सहयोग, सद्भाव एवं उत्साह-युक्त जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया गया है। उपनिषदों में मुख्य विषय 'ब्रह्म' है, उसको सत्य, ज्ञान, अनन्त, अद्वैत, अमृत और सनातन भी कहा गया है। सब कुछ ब्रह्म ही है, जीव भी ब्रह्मस्वरूप है। उपनिषद् के ज्ञान से मनुष्य सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय की अपेक्षा न करते हुए निष्काम भाव से कर्म करता है और ये उपनिषद् मनुष्य को निरन्तर कर्म करने के लिए प्रेरित भी करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में 'संयम, दया और दान को धर्म कहा है'<sup>19</sup> अर्थात् यदि हम इंद्रियों का दमन करें, दूसरे के प्रति दयाभाव रखें और अपने धन का कुछ भाग दान में दें तो हम अपनी आध्यात्मिक उन्नति करेंगे और समाज का कल्याण करेंगे। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य बोलना जीवनरूपी यज्ञ की दक्षिणा है।<sup>20</sup> इसी उपनिषद् में कहा गया है कि 'मनुष्य उदार विचार रखें, किसी स्त्री के साथ अशिष्ट व्यवहार न करें, लोक मंगल की अपेक्षा न करें, विद्वानों का अनादर न करे और सबको अपना जैसा समझे।<sup>21</sup> उपनिषदों में अनेकता में एकता स्थापित करके जीवन की विभिन्न धाराओं को एक ही महार्णव में विलयित करने का महान सन्देश निहित है। उपनिषदों का उद्देश्य समाज में वह व्यवस्था स्थापित करना था जो ईश्वरीय नियमों के अनुरूप हो और जिससे व्यक्ति और समाज दोनों की ऐहिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति हो सके। समस्त मानवता के लिए समान रूप से श्रेय और हित का दिग्दर्शन उपनिषदों में किया गया है, इसी प्रकार के विचारों से उपनिषदों की महानता का ज्ञान होता है।

### संदर्भ ग्रंथ

1. अमरकोश, 2.5.42
2. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।  
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।  
(श्रीमद्भगवद्गीता-3.10)
3. सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिंसृक्षुर्विधिः प्रजाः ।  
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।।  
तदण्डमभवद्धैमं सहस्त्रांशुसमप्रभम् ।  
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।। (मनुस्मृति, 1.8-9)
4. छान्दोग्योपनिषद्-6.2.3
5. चतुर्वेदाः पुराणानि सर्वोपनिषदस्तथा ।  
रामायणं भारतं च गीताषड्दर्शनानि च ।।  
एष ज्ञाननिधिः श्रेष्ठः श्रद्धेयो हृदि सर्वदा ।
6. मनुस्मृति-2.6
7. ऋक् यजुः सामाथर्वाख्यान् देवान् पूर्वादिभिर्मुखैः ।
8. शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात् ।।
9. अल्बेरूनी का भारत, पृ0 8
10. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसना समना पुरस्तात् ।  
ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधु प्रजानतीव नदिशो  
मिनाति ।।-ऋग्वेद-1.124.3
11. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनासि जानताम् ।
12. देवा भागं यथापूर्वं संजानाना उपासते ।।- ऋग्वेद-10.191.2

13. समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः ।  
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।-ऋग्वेद-10.191.4
14. देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।  
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते ।।-यजुर्वेद-3.50
15. केवलाघो भवति केवलादि ।।- ऋग्वेद-10.177.6
16. यांश्च पश्यामि यांश्च न, तेषु मा सुमतिं कृधि ।।-अथर्ववेद-17.1.7
17. तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ।।-अथर्ववेद-3.30.4
18. शतहस्तं समाहार, सहस्रहस्तं संकिर ।।-अथर्ववेद-3.24.5
19. ईशावास्योमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।  
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।-यजुर्वेद-40.1
20. स्वस्ति न इन्द्रो बृद्धश्रवाः स्वस्तिः न पूषाः विश्ववेदाः ।
21. स्वस्ति नस्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।।-  
सामवेद-21.1.9
22. दाम्यत दत्त दयध्वमिति ।।- बृहदारण्यकोपनिषद्-5.2.3
23. अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य  
दक्षिणाः ।।-छान्दोग्योपनिषद्-3.17.4
24. महामनाः स्यात्तद्ब्रतम् । तपन्तं न निन्देत्तद्ब्रतम् । वर्षन्तं न  
निन्देत्तद्ब्रतम् । लोकान् न निन्देत्तद्ब्रतम् । पशून् न निन्देत्तद्ब्रतम् ।  
ब्राह्मणान् न निन्देत्तद्ब्रतम् ।।-छान्दोग्योपनिषद्-2.  
11,14,15,17,18,20